JETIR.ORG ISSN: 2349-5162 | ESTD Year : 2014 | Monthly Issue
JOURNAL OF EMERGING TECHNOLOGIES AND INNOVATIVE RESEARCH (JETIR)
An International Scholarly Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

# भारतीय समाज का बदलता यथार्थ और हिंदी सिनेमा(1913-1947)

**अरविन्द यादव**
**(असिस्टेंट प्रोफेसर, स्वामी सहजानंद स्नातकोत्तर महाविद्यालय गाजीपुर)**
**प्रो० संजय श्रीवास्तव**
**(विभागाध्यक्ष, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज)**

## प्रस्तावना

हिंदी सिनेमा का संबंध पूरे भारत से है। इसके साथ-साथ पूरे दक्षिण एशिया तक हिंदी सिनेमा का प्रभाव है। इन क्षेत्रों के रहने वाले लोग हिंदी सिनेमा से स्वयं को जुड़ा हुआ पाते हैं। हिंदी सिनेमा को देखने वाले अधिकतर लोग भारतीय उपमहाद्वीप से संबंध रखते हैं। अत: इसमें व्यक्त होने वाला यथार्थ का संबंध भी भारतीय उपमहाद्वीप से होगा। भारतीय समाज विविधताओं से भरा हुआ है, यहां कई भाषाओं को बोलने वाले, कई धर्मों को मानने वाले लोग सदियों से एक साथ रहते आए हैं। अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं का पालन करते हैं। विभिन्न जातियों समुदायों के बीच द्वंद्व भी उभर कर सामने आते हैं, इन्हीं सब चीजों से भारतीय समाज का यथार्थ निर्मित हुआ है, और इन्हीं से विभिन्न कहानियों का जन्म होता है, जो सिनेमा के परदे पर साकार होती हैं।

## उद्देश्य

1. मुक सिनेमा में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति
2. 1930 और 40 के दशक में बनी सवाक फिल्मों में सामाजिक यथार्थ
3. इस दौर में प्रगतिशील लेखक संघ एवं इप्टा का हिंदी सिनेमा पर प्रभाव

**बीज शब्द**

यथार्थवाद, मूक सिनेमा, सवाक सिनेमा, प्रलेस, इप्टा, जर्मन अभिव्यंजनावाद, न्यू सोवियत सिनेमा,

**विषयवस्तु**

साल 1896 तक ल्यूमियर बंधु अपनी छायांकन की शैली के लिए विख्यात हो चुके थे। इस समय भारत अकाल और महामारी से भयंकर रूप से जूझ रहा था। अनाज के गोदाम आम लोगों के द्वारा लूट जा रहे थे, जिन पर पुलिस बर्बरतापूर्वक गोलियां चला रही थी। इन्हीं भयावह दृश्यों अकाल व महामारी की तस्वीर खींचने फ्रांस निवासी ल्रयूमियर बंधु भारत आए। भारत से जाने से पहले ल्रयूमियर बंधुओ ने अपनी तस्वीरों की एक प्रदर्शनी मुंबई के वाटसन होटल में 7 जुलाई 1896 को लगाई। स्थिर छाया चित्रों के साथ गतिशील चित्रों को पहली बार देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना ना रहा। इनमें रेलगाड़ी का चलना, समुद्र में स्नान करना,दीवार का ढहना,बच्चों का नाश्ता किया जाना, फैक्ट्री से बाहर आते मजदूरों की पंक्तियां आदि। इन तस्वीरों से दर्शकों के आनंद का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि तब के समाचार पत्रों में इन तस्वीरों के प्रदर्शन को सदी का चमत्कार और दुनिया का नया आश्चर्य बताया गया था। समाचार पत्रों में जैसे ही प्रदर्शनी की खबर छपी लोग दूर-दूर से यहां आते और तस्वीरों की कहानियों को अपनी आंखों में भरकर ले जाते। तब के समाचार पत्रों के मुताबिक यह तस्वीर केवल मन मोहिनी ही नहीं बल्कि सामाजिक यथार्थ को हुबहू दर्शाने का प्रयास करने वाली भी थी।[1]

ल्यूमियर बंधुओ से गहरे रूप से हरिश्चंद्र शखाराम भटवेड़कर उर्फ सावे दादा प्रभावित हुए। हीरालाल सेन ने भी छायांकन में नाम कमाया। हालांकि इन दोनों छायाकारो की कला ल्यूमियर बंधुओं की शैली यथार्थवादी छायांकन तक ही सीमित थी। चलचित्र छायांकन में मनोरंजन की दृष्टि से कल्पनाशीलता की काफी गुंजाइश थी, जिसे पूरा किया दादा साहब फाल्के ने। मुंबई के थिएटर में 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक बहुत लोकप्रिय था, इसी लोकप्रियता का सहारा लेकर दादा साहब फाल्के ने इसी नाम से 1913 में 40 मिनट की एक फिल्म का निर्माण किया। हम कह सकते हैं कि सिनेमा के आरंभ में ही तात्कालिक विषय से हर तरह का फायदा उठाने का उपक्रम शुरू हो चुका था। फाल्के ने भारतीय नाट्यशास्त्र के उसे सिद्धांत को बखूबी समझा था कि कथ्य का पूर्व ज्ञान दर्शकों के मनोरंजन का द्योतक होता है। [2] जो वर्तमान समय तक बखूबी सफलता का पैमाना है। मूक सिनेमा के दौर में 1912 -13 से 1930 तक लगभग 1300 फिल्मों का निर्माण हुआ। इस समय बनने वाली फिल्मों में अधिकतर पौराणिक,धार्मिक या ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित होती थी। कुछ फिल्में यूरोप, अरब आदि के कहानियों पर भी बनी, लेकिन सामाजिक विषयों पर फिल्मों का निर्माण बहुत ही कम हुआ। मूक सिनेमा के दौर में ही महाजनी शोषण के विरोध में बनी फिल्म

'सावकारी पाश'(1925) के फिल्मकार बाबूराव पेंटर थे, जिनके लिए सिनेमा सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि सामाजिक संदेश देने का माध्यम भी था। भारतीय सिनेमा में यथार्थवाद की शुरुआत का श्रेय बाबूराव पेंटर को ही जाता है।[3] इस फिल्म में बाबूराव पेंटर ने सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत किया और संदेश दिया कि अनपढ़ मत रहो,भले ही भूखे मर जाओ लेकिन साहूकार से कर्ज मत लो।

इसके बावजूद भी यह कहना उचित नहीं होगा कि भारतीय फिल्मकारों ने अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का आधार यथार्थवाद को बनाया। दार्शनिक अशोक केलकर का मानना है कि हिंदी सिनेमा पर भारत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का प्रभाव देखा जा सकता है। केलकर के अनुसार इस परंपरा का प्रारंभ पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' (1931) से ही हुआ।आलमआरा ने गीत संगीत का फॉर्मेट तैयार किया जो आज भी चला आ रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की तरह फिल्मी गीत भी नायक और नायिका के पवित्र प्रेम का प्रतीक बने। उपवनो एवं मनोहरी पृष्ठभूमियों में फिल्माए गए गीत श्रृंगार प्रधान हैं। भक्तिकालीन रास की याद दिलाने वाला हिंदी फिल्म का गीत फिल्मकारो के हाथ में शास्त्रीय काव्य परंपरा और आधुनिक संवेदना को जोड़ने वाली बेजोड़ कड़ी के रूप में रूपांतरित हुआ है।[4]

हिंदी सिनेमा को बेहतर समझने के लिए अन्य प्रदर्शन कलाओं को समझना जरूरी है। हिंदी फिल्म उद्योग उत्तर भारत एवं मध्य भारत की स्वांग, रास और बहुरूपियों की परंपरा, महाराष्ट्र की संगीत नाटकों की परंपरा और पारसी रंगमंच से गहरे तौर पर प्रभावित हुआ। पौराणिक, ऐतिहासिक, जादुई चमत्कारों से प्रभावित रहस्य और रोमांचकारी कथाओं के साथ-साथ नृत्य,गीत और संगीत का समावेश भारतीय काव्य शास्त्रीय परंपराओं और भारतीय लोक परंपराओं के अनुरूप था।

मूक सिनेमा के दौर में सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ नए भारत के निर्माण की आशा लिए हुए था। यह दौर भारत में राष्ट्रवादी चेतना के विकास का भी था, लोगों तक अपनी बात प्रेषित करने के लिए सिनेमा ने इतिहास के तथ्यों को भी प्रस्तुत किया। जिससे सामाजिक -राजनीतिक मूल्य सिनेमा के माध्यम से प्रदर्शित हुए। फिर भी मूक सिनेमा के दौर में कुछ फिल्मों को छोड़कर यह पता नहीं चल पा रहा था, कि देश में आजादी का संघर्ष चल रहा है। लेकिन सवाक फिल्मों के शुरुआत से ही बदलाव दिखने लगे थे। फिल्मों में आने वाली नई पीढ़ी सामाजिक व राजनीतिक रूप से जागरूक थी। इस दौर में देवकी बोस ने 1934 में उच्च कोटि की फिल्म सीता बनाई। पौराणिक आख्यान पर आधारित यह फिल्म कलात्मक और तकनीकी दृष्टि से सुदृढ़ थी। पृथ्वीराज

कपूर और दुर्गा खोटे अभिनीत यह भारत की पहली फिल्म थी, जिसे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर वेनिस फिल्म महोत्सव में भेजा गया था। [5]

अंग्रेजी शासन के समय सेंसर बोर्ड के नियंत्रण के कारण भारतीय फिल्मकार खुलकर क्रांतिकारियों का समर्थन नहीं कर पा रहे थे, इसलिए उन्होंने अपनी बातों को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की। आरंभिक दौर की सवाक फिल्मों को जवरीमल पारख तीन श्रेणी में विभाजित करते हैं। पहली श्रेणी उन फिल्मों की है, जिनमें किसी मध्ययुगीन संत या शासक के जीवन को पेश किया गया था। दूसरी श्रेणी उन फिल्मों की है, जो किसी न किसी सामाजिक समस्या से प्रेरित थीं। इन दोनों तरह की फिल्मों का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन नहीं था। इनके अलावा अधिकतर वे फिल्में थी जो मनोरंजन के लिए बनाई गई थी और पैसा बनाना ही जिनका मकसद था। [6] प्रथम श्रेणी की फिल्मों ने भारत के मध्ययुगीन गौरवपूर्ण इतिहास को प्रस्तुत किया। क्योंकि अंग्रेज इतिहासकारों के द्वारा मध्य युगीन इतिहास को अंधकारपूर्ण प्रस्तुत किया जा रहा था। इस समय की फिल्मों का उद्देश्य मध्ययुगीन शासको की वीरता और अपराजेयता का गुणगान न करके बल्कि उनके समानता और सहिष्णुता की भावना पर आधारित एक न्यायपूर्ण व्यवस्था पर बल देना था। मुगल शासको को भारतीय शासक के रूप में व्यक्त किया गया। संत तुकाराम, चंडीदास, मीरा, संत ज्ञानेश्वर पर फिल्मों के माध्यम से धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवाद के विरुद्ध धार्मिक सहिष्णुता ,जाति और धर्म से ऊपर उठकर मानवता पर बल देना था।

इस दौर में सामाजिक समस्याओं को फिल्मों का माध्यम बनाया गया। अछूत समस्या, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति, किसान, मजदूर आदि की समस्याओं को दिखाया गया। लोकप्रिय लेखकों प्रेमचंद, रविंद्रनाथ टैगोर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र चटर्जी आदि की कहानियों पर फिल्मों का निर्माण हुआ। प्रेमचंद ने 1937 की फिल्म 'मजदूर' की कहानी भी लिखी। इस फिल्म को मोहन भावनानी ने निर्देशित किया था। यह फिल्म मजदूर और मिल मालिक के हितों के परस्पर टकराहट को प्रदर्शित करती है। 'एनसाइक्लोपीडिया आफ इंडियन सिनेमा' इसे औद्योगिक मजदूरों पर बनी पहली यथार्थवादी फिल्म मानता है। [7] मिल मालिक की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र विनोद और पुत्री पदमा मिलकर मिल चलाते हैं। विनोद शराबी और दुष्ट प्रकृति का है, मजदूरों का शोषण करता है, जिसके कारण पदमा कैलाश के साथ मिलकर उसके अत्याचारों के खिलाफ लड़ती है। विनोद को जेल हो जाती है, पदमा कैलाश से विवाह कर लेती है तथा मिल मजदूरों के साथ मिलकर पुन: मिल चालू करती है। यह फिल्म गरीबी अमीरी, मजदूर–मालिक संबंधों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है। पहले फिल्म का नाम 'मजदूर' था, लेकिन सेंसर बोर्ड के हस्तक्षेप के बाद 'मिल' नाम से इसे प्रस्तुत किया गया।

1936 में स्थापित 'प्रगतिशील लेखक संघ' ने सिनेमा में मार्क्सवाद, सामाजिक सुधारवाद और गांधीवाद को बहस के केंद्र में रखा। नितिन बोस ने मार्क्सवाद से प्रभावित होकर 'प्रेसिडेंट'(1936) बनाईं। इस फिल्म के माध्यम से कारखाना मज़दूरो को प्रबंधन और संचालन स्तर के कर्मचारियों के अनुसार समान अधिकार की देने की बात किया गया। 1938 में नितिन बोस ने 'धरती माता' बनाई। यह फिल्म किसान और खेत-खलिहान से जुड़ी हुई थी। यह फिल्म सोवियत सिनेमा से प्रभावित थी, इसके माध्यम से कृषि के आधुनिकीकरण तथा सामूहिक खेती से उत्तम पैदावार करके किसानों को आर्थिक रूप से मजबूत बनाने की बात की गई।

'अछूत कन्या' (1936) एक दलित लड़की और एक ब्राह्मण लड़के की कहानी है। दोनों अपने प्रेम के अंजाम से अंजान हैं, कि उनकी शादी नहीं हो सकती है। जातिप्रथा प्रेम जैसी कोमल भावना को भी खंडित कर देती है। नायक का विवाह किसी अन्य स्त्री से और नायिका का विवाह किसी अन्य पुरुष से हो जाता है। फिल्म में एक ब्राह्मण का घर एक दलित को शरण देने के कारण जला दिया जाता है। दलित को शरण देना तो एक बहाना होता है, असल कारण उनकी आपस में शत्रुता है। फिल्म में जातिवादी समाज की तीखी निगरानी को बड़ी खूबसूरती से उभारा गया है। जब भी दो भिन्न जाति के लोग ब्राह्मण व दलित आपस में संवाद करते हैं, तब किसी तीसरे व्यक्ति को उन पर दृष्टि रखते दिखाया जाता है। यह 'तीसरा व्यक्ति' समाज की आंख है, जो व्यक्ति की निजता को अस्वीकार करती है, और यह पता करते रहती है कि कौन पारंपरिक समाज के आदर्शों के अनुसार चल रहा है और कौन उसके उल्लंघन की चेष्टा कर रहा है। तीसरे शख्स की आंख सामाजिक मर्यादा को केवल वर्ण व्यवस्था के नजरिए से समझने वालों की आंख थी। [8] गांव बदल रहे हैं, गांवों में आधुनिकता के लक्षण रेल, थाने, नई दवाई आदि दिख रहे हैं, लेकिन व्यक्ति की स्वतंत्रता और आधुनिकता का विचार लोगों में नहीं दिख रहा है। फिल्म का अंत नायिका द्वारा ट्रेन में बैठे लोगों को बचाने के लिए अपनी जान देने से होती है। दलित स्त्री के इस त्याग को दो दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि इसके माध्यम से दलित स्त्री की उद्दात चेतना को दर्शाकर देश व राष्ट्र के निर्माण में उनकी भागीदारी पर सवाल खड़े करने वालों को लज्जित किया गया है। दूसरा दृष्टिकोण यह हो सकता है कि दलित का ही फिल्म में दुखांत क्यों किया गया। दलित या दलित स्त्री का जीवन इतना सस्ता है कि उसे फिल्म जैसे मनोरंजन के माध्यम में इस तरह से नष्ट होते दिखाया जा सके। [9]

पहला दृष्टिकोण दलित स्त्री की महानता को प्रकट करता है। वर्ण व्यवस्था में वैसे भी दलित लोगों के नायक-नायिकाओं को सुखांत के रूप में प्रस्तुत किया भी नहीं जा सकता था। हम वैसे समाज में रहते हैं जहां अभिजात्य लोग अपने को श्रेष्ठ दिखलाने के लिए इतिहास को अपने लोगों

के इतिहास से भर देते हैं। 'अछूत कन्या' में आदर्शवाद के रूप में दलित स्त्री के नैतिक शक्ति को दिखाया गया है, जो करुणा, जीवन और त्याग की मूर्ति हैं।

गांधी के अस्पृश्यता संबंधी विचार से प्रभावित चंदूलाल शाह ने 1940 में 'अछूत' का निर्माण किया। फिल्म इंडिया पत्रिका ने इस फिल्म के लिए लिखा," इतनी अच्छी फिल्म पहले नहीं बनी, जो कि अस्पृश्यता के दानव को प्रदर्शित कर सके जो भारतीय आजादी के मार्ग में रोड़ा है।[10] फिल्म के प्रीमियर के समय सरदार वल्लभभाई पटेल भी उपस्थित थे, और उन्होंने कहा -यदि फिल्म अस्पृश्यता को समाप्त करने में सहायता करती है, तो यह कहा जा सकता है कि फिल्म भारत को स्वराज देने में भी सहायक होगी, क्योंकि अस्पृश्यता आजादी के रास्ते में प्रमुख बाधक है।[11] फिल्म की कहानी एक अस्पृश्य जाति की लड़की 'लक्ष्मी' की है। लक्ष्मी को एक धनी सेठ गोद लेता है और उसका पालन पोषण अपनी बेटी के साथ करता है, लेकिन विवाह के समय सेठ अपनी बेटी का विवाह उसी लड़के से कर देता है, जिससे लक्ष्मी भी प्रेम करती थी। जिससे दुखी होकर लक्ष्मी सेठ का घर छोड़कर अपने गांव चली जाती है। वहां जाकर लक्ष्मी ने अस्पृश्यता के खिलाफ आंदोलन चलाया तथा मंदिरों में अछूतों का प्रवेश दिलाने में सफल रहती है। फिल्म पूरी तरीके से गांधी के अस्पृश्यता संबंधी विचारों पर आधारित थी। इसी क्रम में शांताराम की सामाजिक यथार्थवादी फिल्म 'पड़ोसी'( 1941) महत्वपूर्ण फिल्म है। इस फिल्म को पहले भी शांताराम मराठी में बना चुके थे, बाद में उन्होंने इसे हिंदी में बनाया। फिल्म सांप्रदायिकता का स्पष्ट तौर पर विरोध करती है। यह फिल्म तत्कालीन स्थिति को देखते हुए बनाई गई थी। यह फिल्म हिंदू मुसलमान पड़ोसियों की कहानी है जो तीसरे व्यक्ति के भड़काने से एक दूसरे के खिलाफ हो जाते हैं, और मृत्यु के करीब पहुंच जाते हैं। यही समय था, जब मुस्लिम लीग ने लाहौर अधिवेशन( 1940) में अलग राष्ट्र की मांग की थी। 1942 में महबूब खान ने 'रोटी' का निर्देशन किया। यह फिल्म जर्मन अभिव्यंजनाबाद, न्यू सोवियत सिनेमा और सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ पूंजीवाद, मार्क्सवाद और पितृसत्तावाद को दिखाती है। यह फिल्म पूंजीवाद का विरोध करती है। इस फिल्म में आदिवासी साम्यवाद को दिखाया गया है। फिल्म पूंजीवाद को लालच शोषण एवं पितृसत्ता का पोषक बताती है। इस समय दुनिया में आधुनिकीकरण और औद्योगिक गतिविधि बढ़ रही है, और एक पूंजीपति वर्ग का उदय हो रहा है। महबूब साहब ने यह दिखाने की कोशिश किया कि बिना सर्वहारा वर्ग( किसान, मजदूर, नौकर )के पूंजीवादी व्यवस्था काम नहीं कर सकती है। यह किसान ही है जो जमीन जोतता है, फसल उगाता है और बुनियादी जरूरत 'रोटी' को पैदा करता है। फिर भी सर्वहारा वर्ग निरंतर उत्पीड़न का शिकार है। महबूब खान ने पूंजीवाद को स्पष्ट करने के लिए लक्ष्मी दास का चरित्र सामने रखा है। शुरू में लक्ष्मी दास एक बेघर आदमी होता है। उसके माध्यम से फिल्मकार बताता है कि सत्ता

हासिल करने के लिए धोखा देना सीखना होगा, जो सामाजिक गतिशीलता के नियमों को बदलने के लिए आवश्यक है। लक्ष्मी दास एक व्यवसायी को मारता है और उसके कपास के धंधे पर कब्जा कर लेता है। लक्ष्मी दास द्वारा अपने मजदूरो के प्रति दया दिखाने से इनकार करना, पूंजीवाद के प्रवृत्ति को दिखाता है। लक्ष्मी दास का संवाद' मूर्ख, कमजोरों और श्रमिकों के शरीर पर सोने की इमारतें बनती हैं'। इस धारणा को और मजबूत करता है, कि लक्ष्मी दास के चरित्र में हम आज के कारपोरेट की अनियंत्रित शक्तियों द्वारा बाजार अर्थशास्त्र को नियंत्रित करते हुए देखते हैं। पूंजीवाद को धन का लालची दिखाया गया है। लक्ष्मी दास का विमान जब दुर्घटनाग्रस्त होता है तब वह सोने की खोज में ही निकला होता है। डार्लिंग आदिवासियों के द्वारा अनाज का बंटवारा होते देखती है तो वह चकित रह जाती है, तब बालम उसे बताता है कि हम सभी तो इसी प्रकार से अनाज का बंटवारा करते हैं जिसको जितनी आवश्यकता होती है, उतना अनाज ले जाता है। यहां तक की बंटवारे में पशुओं तक का ध्यान रखा जाता है, ना कोई अधिक की मांग करता है ना छीना झपटी करता है। यह पूंजीवादी समाज के लिए अनोखा है, जहां धन संचय और संग्रहण के कारण ही समाज में असमानता का जन्म होता है। व्यक्ति किसी अन्य का अधिकार छीनकर ही सफलता प्राप्त करता है। इस प्रकार महबूब खान ने 'रोटी' के रूप में अपने समय से आगे की फिल्म का निर्माण किया।

1943 में स्थापित भारतीय जन नाट्य संघ(इप्टा ) से जुड़े फिल्म कारों ने सामाजिक सरोकारों से जुड़े हुए फिल्मों का निर्माण किया। इप्टा वामपंथी पार्टी सीपीआई का जन सांस्कृतिक मंच था, जिससे पृथ्वीराज कपूर, ऋत्विक घटक, विजाय भट्टाचार्य, उत्पल दत्त, ख्वाजा अहमद अब्बास, सलील चौधरी, चेतन आनंद, महबूब खान, विमल राय, के बालचंद्र, ऋषिकेश मुखर्जी, जिया सरहदी, मोहन सहगल, रमेश सहगल, कमांल अमरोही, हबीब तनवीर, कैफ़ी आज़मी, ए. के. हंगल, शबाना आजमी, शैलेंद्र, साहिर लुधियानवी, बलराज साहनी, भीष्म साहनी, आदि कलाकार किसी न किसी रूप में जुड़े रहे। मुंबई (1943 ) के इप्टा के सम्मेलन में सामाजिक यथार्थ से जुड़ी फिल्मों के निर्माण पर बल दिया गया। जिसके बाद इप्टा से जुड़े लोगों ने अकाल, भुखमरी, गरीबी, महिलाओं की आजादी, अछूत समस्या, वर्ग संघर्ष, सांप्रदायिकता आदि समस्याओं पर फिल्मों का निर्माण किया। सिनेमा में शामिल गीतों में भी इप्टा ने आम आदमी के संघर्ष और दुख के करीब होने का प्रयास किया।

इप्टा के प्रयास से ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'धरती के लाल' फिल्म का निर्माण किया। फिल्म के सभी कलाकार इप्टा से जुड़े हुए थे। जिनमें संभू मित्र, बलराज साहनी, तृप्ति भादुड़ी, दमयंती साहनी और जोहरा सहगल प्रमुख थी। फिल्म का विषय अकाल और द्वितीय विश्व युद्ध के समय किसानों की दुर्दशा थी। इप्टा से जुड़े सदस्य 1943 के बंगाल के काल के समय गांव-गांव घूम कर अपने

सांस्कृतिक कार्यक्रमों के माध्यम से चंदा वसूलकर पीड़ितों की मदद किए। बंगाल के अकाल के भयावहता को फिल्म में बखूबी दिखाया गया। फिल्म अकाल से पीड़ित एक परिवार की दुर्दशा की कहानी बयां करती है, जो मानवीय विध्वंस और जीवन के संघर्ष की दास्तां है। फिल्म में किसानों की दुर्दशा, उनका गांव से पलायन और भूख से उनकी मौत को दिखाया गया। फिल्म के अंत में समाजवादी दर्शन का आदर्श सामूहिक खेती से किसानों की भूख और गरीबी से मुक्ति का मार्ग सुझाया गया। 'धरती के लाल' एक यथार्थवादी फिल्म थी, जो बॉक्स ऑफिस पर असफल साबित हुई, लेकिन फिल्म के द्वारा बंगाल के अकाल की तीव्र और खुली आलोचना की गई। यह फिल्म एक मील का पत्थर साबित हुई। सोवियत रूस में प्रदर्शित होने वाली यह प्रथम भारतीय फ़िल्म थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय बदलते सामाजिक और आर्थिक परिवेश को फिल्म ने दिखाया। बाद के मुख्य धारा के फिल्मकारों ने इसके नव यथार्थवादी चित्रण को अपनी फिल्मों में शामिल किया। उस समय इस फिल्म को न्यूयॉर्क टाइम्स ने यथार्थवादी फिल्म कहकर तारीफ किया।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय तक किसानों पर लगान बेतहाशा बढ़ चुका था और सरकार ने धान की फसल को सैनिकों के लिए सुरक्षित रख लिया था, जिस कारण फिल्म साम्राज्यवाद के खिलाफ एक सशक्त कलात्मक प्रतिरोध प्रस्तुत करती है। जिसके कारण बंगाल में फिल्मांकन की अनुमति नहीं मिलने से इसे महाराष्ट्र के धुलिया जिले में किसान सभा के सहयोग से फिल्माया गया।

इप्टा से जुड़े हुए चेतन आनंद ने 1946 में 'नीचा नगर' का निर्माण किया। फिल्म की कहानी ख्वाजा अहमद अब्बास और हयातुल्लाह अंसारी ने लिखा था। यह कहानी प्रसिद्ध रूसी लेखक मैक्सिम गोर्की के विश्व प्रसिद्ध नाटक 'लोअर डेप्ट्स' से प्रभावित थी। फिल्म में गरीब जनता और ऊंचे तबके के जीवन को विषय बनाया गया था। एक धनी जमींदार 'सरकार' पहाड़ी के ऊंचाई पर महल में रहता है, गरीब जनता उसके खेतों में काम करती है और किसी तरह गुजारा करती है। सरकार के घर का नाला बस्ती में गिरता है, नाले का पानी पीने के पानी में मिल जाता है, जिससे कई गांव वाले बीमार होकर मर जाते हैं। धनी लोग इस आपदा को अवसर में बदलने के लिए गांव में एक अस्पताल बनाने की योजना बनाते हैं। गांव वाले समझ जाते हैं कि सरकार गांव से लोगों को भगाकर उनके जमीन पर कब्जा करना चाहता है। गांव वालों का प्रतिनिधि मंडल जब सरकार से मिलता है, तो वह तर्क देता है कि वह नाला नहीं बल्कि नहर है जिससे उनके खेतों की सिंचाई और पशुओं को पानी मिल सके। गांव में भी सरकार के कुछ समर्थक मिल जाते हैं जो लोगों को डराते धमकाते हैं। फिल्म धनिक और मालिक वर्ग के क्रूर अत्याचार को दिखाती है। समाजवादी दर्शन वाली यह गंभीर फिल्म एक सार्वभौमिक संदेश देती है। फिल्म में ब्रिटिश हुकूमत के समय

भारतीयों की बुरी दशा और उनके शोषण को दिखाया गया है। इसके बावजूद भी यह फिल्म ब्रिटिश हुकूमत के प्रकोप से बच गई। 'नीचा नगर' को 1946 के कांस फिल्म फेस्टिवल में' ग्रैंड प्रिक्स अवार्ड' से नवाजा गया। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने फिल्म 'नीचा नगर' को बड़े चाव से देखा था, और इसे बहुत पसंद किया था, पंडित जी के अनुरोध पर यह फिल्म 1949 में नई दिल्ली में आयोजित पहले एशियाई कांफ्रेंस के डेलीगेटो को दिखाई गई थी।[13]

वी. शांताराम ने 1946 में सोदेश्यपूर्ण फिल्म 'डॉक्टर कोटनीश की अमर कहानी' नामक फिल्म का निर्माण किया। फिल्म द्वारकानाथ कोटनीस के सत्य कथा पर आधारित ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी ' एंड वन डिड नॉट कम बैक' पर आधारित थी। इस फिल्म में शांताराम ने स्वयं डॉक्टर कोटनीस की भूमिका का निर्वहन किया था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जब जापान ने चीन पर हमला किया तब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पांच डॉक्टरों की एक टीम चीन भेजी थी, इन्हीं में से एक डॉक्टर द्वारका नाथ कोटनीस थे इन्होंने वहीं चीनी युवती से शादी कर लिया और युद्ध में घायल सैनिकों तथा भयंकर रूप से फैले प्लेग से पीड़ित लोगों का उपचार किया। डॉक्टर कोटनीस स्वयं प्लेग से पीड़ित होकर चीन में ही मर गए। शांताराम की यह फिल्म अति सराहनीय साबित हुई। अंतरराष्ट्रीय मंच पर भी इस फिल्म की खूब प्रशंसा की गई। फिल्म की सफलता और सराहना को देखते हुए शांताराम ने सन 1947 में इसका अंग्रेजी संस्करण ' द जर्नी ऑफ डाक्टर कोटनिस' नाम से अमेरिका के सिनेमाघरो में रिलीज किया।

हिंदी सिनेमा के प्रगतिशील और यथार्थवादी धारा ने इस दौर की फिल्मों के माध्यम से सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों को उठाया। इन फिल्मों ने किसानों और मजदूरों की समस्याओं को औपनिवेशिक काल में स्पष्ट किया। समाज में व्याप्त अस्पृश्यता, असमानता और वर्ग विभाजन को दिखाया। इस दृष्टि से 1930 और 40 के दशक के फिल्मों का ऐतिहासिक महत्व है।

## संदर्भ एवं टिप्पणी


1. श्रीवास्तव, संजीव, समय सिनेमा और इतिहास, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2014 पृ 02
2. वही, पृ 03
3. पारख, जवरीमल, हिंदी सिनेमा में बदलते यथार्थ की अभिव्यक्ति, नई किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृ 10
4. जोशी, ललित, हाउसफुल, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2014 पृष्ठ 39
5. ठाकुर, मनोज, फिल्मिंग पॉलिटिक्स, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृ 18
6. पारख, पृ 11

7. ओझा, अनुपम, भारतीय सिने सिद्धांत, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ 107-108
8. मीणा, प्रमोद, हिंदी सिनेमा दलित आदिवासी विमर्श, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ 85
9. वही
10. फ़िल्म इंडिया, जनवरी, 1940, पृ 48
11. वही पृ 07
12. हमीद, जावेद, गुजरे जमाने की यादगार फिल्में, अतुल्य पब्लिकेशन, दिल्ली, 2020, पृ 57
13. श्रीवास्तव, पृ 28